RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-01
January -2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com [UGC Listed Journal]

दलित आत्मकथा–लेखन की प्रयोजनीयता

ज्वाला चन्द्र चौधरी

शोधार्थी, विश्वविद्यालय हिन्दी–विभाग, ल०ना० मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

ARTICLE DETAILS

Article History
Published Online: 10 January 2019

ABSTRACT

दलित आत्मकथा लेखन की बहुत विशद् परंपरा रही है, जिसमें दलितों ने अपने भोगे तथा जिए हुए यथार्थ का उद्घाटन करता है। दलित–साहित्य का प्रयोजन परंपरित–साहित्य के प्रयोजन से पृथक् है। जहाँ परंपरित साहित्य का सृजन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष तथा आत्मानंद के लिए किया जाता है, वहीं दलित–साहित्य सामाजिक–धार्मिक–सांस्कृतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के प्रति बौद्धिक विद्रोह है। यह साहित्य अलग सौन्दर्यशास्त्र की माँग करता है। दलित–साहित्य की प्रयोजनीयता अलग और बहुआयामी हैं। इसमें दलित मूलतः अपनी अस्मिता की तलाश कर अपने लिए समतामूलक समाज–निर्माण की चेतना जगाता है।

प्रस्तावना :

काव्य–प्रयोजन के रूप में साहित्य रचना के विषय में चिंतन किए जाने की एक दीर्घ परंपरा रही है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने साहित्य–प्रयोजन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, आयु, अर्थ, मंगल, शांति, आत्मसुख, उपदेश आदि को महत्त्वपूर्ण माना है। इसमें भी आनंद की साधना तथा कीर्ति स्थापना भी एक उद्देश्य होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्य आनंद की प्राप्ति के लिए, यश की प्राप्ति के लिए तथा कांता के समान उपदेश के लिए होता है।[1]

'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार आत्मकथा–लेखन के निम्नलिखित प्रयोजन होते हैं :–

(1) आत्म की उन्नत्ति के लिए आत्म–परीक्षण
(2) अतीत की स्मृतियों का मोह
(3) स्वयं के अनुभवों को दूसरों के हित के लिए लिखना
(4) अस्मिता की स्थापना
(5) कलात्मक अभिव्यक्ति की इच्छा
(6) उच्च पद या ख्याति से लाभ हासिल करने की व्यावसायिक कामना।

आत्मकथा के प्रयोजन को समझने के लिए साहित्य के प्रयोजन को ध्यान में रखा जा सकता है। जिस प्रकार साहित्य मनुष्य के भावजगत और अंतर्जगत को उच्च स्तर पर ले जाता है, वह उसकी चिंतन और कल्पना– शक्ति को बढ़ाता है तथा विश्व में अन्य लोगों के साथ एकल की भावना का विकास करता है। ठीक उसी प्रकार आत्मकथा साहित्य के माध्यम से निजी अनुभव, व्यक्ति को जीवन के उतार–चढ़ावों के बीच अपनी जिजीविषा बनाए रखने की प्रेरणा दे सकते हैं। आत्मकथा में वर्णित जीवन किसी एक व्यक्ति का न होकर एक तरह से पूरे समाज का चित्र प्रस्तुत कर देता है।

हिन्दी साहित्य कोश में आत्मकथा–लेखन के निम्नलिखित प्रयोजन बताए गए हैं–

(1) आत्म–निर्माण, आत्मपरीक्षण या आत्मसमर्थन
(2) अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह
(3) जटिल विश्वास के उलझनों में अपने–आपको अन्वेषित करने का सात्विक प्रयास।[2]

डॉ० कमलेश सिंह के अनुसार आत्मकथा के प्रयोजन निम्नवत् हैः–

(1) आत्मप्रशंसा
(2) आत्मस्वीकृति
(3) अमरता की आकांक्षा
(4) अपने अनुभवों एवं प्रयोगों से अपने अनुगामियों को लाभान्वित करने की इच्छा
(5) सहानुभूतियाँ प्राप्त करने हेतु
(6) अपने अहं की तुष्टि के लिए
(7) अपनी प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता से आर्थिक लाभ उठाने की इच्छा
(8) प्रतिशोध की भावना
(9) सामाजिक प्रतिष्ठा की अभिलाषा
(10) मानसिक तनाव से मुक्ति
(11) अतीत का मोह।[3]

आत्मकथा के प्रयोजनों पर विचार करते हुए डॉ० तुलसीराम कहते हैं– ''सामंतवाद और औपनिवेशिकता के दौर में राजा–रानी के बारे में ही लिखा–पढ़ा जाता था। भारत में तो इसकी परंपरा समृद्ध रूप में हैं। आज जितने चाव से एक राजा की कथा नहीं पढ़ी जाती, उससे ज्यादा चाव से दलित और स्त्रियों की आत्मकथाएँ पढ़ी जा रही हैं और उन पर शोध हो रहे हैं। .....दरअसल उत्तर औपनिवेशिक चिंतन नए ज्ञान को जन्म दे रहा है। ये आत्मकथाएँ नए ज्ञान को समृद्ध कर रही है।''[4]

आत्मकथाओं के बारे में एक धारणा यह भी है कि प्रसिद्धि पाने के लिए लेखक कई तरह के झूठ का सहारा लेते हैं। कल्पना के माध्यम से आत्मकथा में खुद के व्यक्तित्त्व को उभारने की कोशिश की जाती है। आत्मकथा के संदर्भ में इन्हें

RRIJM 2015, All Rights Reserved

प्रसिद्धि के हथकंडे कहा जाता है। इन तमाम बातों की रोशनी में कृष्णा अग्निहोत्री अपनी आत्मकथा के दूसरे भाग में स्वयं ही लिखती हैं कि जब वे खंडवा में आत्मकथा लिख रही थी तो प्रसिद्धि के लिए हथकंडे को प्रयोग करने की बात तो दूर, वे ऐसा सोचती भी नहीं थीं। उन्होंने तो लिखना चाहा जो उनकी व्यथा थी।[5]

उपर्युक्त विवेचनों से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं हम कि आत्मकथा–लेखन एक दुःसाध्य कार्य है। किसी श्रेष्ठ आत्मकथा का लेखन करना एक चुनौती भरा कार्य है। आत्मकथाकार के लेखन के दौर में अपने बहिर्जगत और अंतर्जगत से टकराना होता हैं। आत्मकथा लेखन जीवन के माध्यम से अतीत का विश्लेषण कार्य है। साथ ही इसमें जीवन की बाधाओं– दुश्वारियों से टकराने का साहस होता है।

दलित–लेखन की सबसे चर्चित विधा आत्मकथा है। इसकी शुरूआत डॉ० भीमराव अंबेडकर की आत्मकथा 'मेरा जीवन' से मानी जा सकती हैं। यह आत्मकथा 'जनता' पत्र के 6 नवम्बर 1954 अंक में छपा था। इसमें डॉ० अम्बेडकर ने 'मेरा जीवन' नाम से एक संपूर्ण आत्मकथा लिखने की योजना का जिक्र किया था। उनके ही शब्दों में– ''सभी स्मृतियों को समेटकर एक आत्मकथा लिखने का मेरा विचार है। समग्र आत्मकथा न लिखूँ तो कम–से–कम 'मेरा जीवन' नाम से एक पुस्तक जरूर लिखूँगा।''[6] 1956 में डॉ० अम्बेडकर की मृत्यु हो जाने के कारण आत्मकथा लिखने की उनकी योजना साकार न हो पाई। अंबेड्करी चेतना के साथ लिखी गई शुरुआती आत्मकथाओं में शंकर राव खरात की 'तराल अंतराल' (1976) दया पवार की 'बलूतं' (1978ई०), माधव कोंडा विलकर की 'मुकाम' पोस्ट देवाचे गोणे (1979ई०) के नाम लिए जा सकते हैं, लेकिन किसी दलित के पहले आत्मकथा के रूप में नाम लेना हो तो हजारी द्वारा लिखित 'आई वाज एन आउट कास्ट इंडियन' (1951ई०) को रखा जा सकता है।

दलित आत्मकथा, गैर–दलित आत्मकथा से भिन्न होती है। यह भिन्नता उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण है। अपनी उपलब्धियों का आकलन करने के लिए जीवन के अंतिम दौर के आत्मकथाएँ लिखी जाती रही हैं; लेकिन दलित–आत्मकथा अपने समुदाय की वेदना की अभिव्यक्तियाँ हैं। इन्हें लिखने के लिए दलित–लेखक अपने बूढ़े होने का इंतजार नहीं करते। वे व्यवस्था द्वारा थोपी दमघोंटू मर्यादाओं में जीते अपने समुदाय की व्यथा–कथा लिखते हैं। इस व्यथा का इतिहास शताब्दियों का है। दलित–लेखक को जो सामुदायिक स्मृति मिली है, वह भी शताब्दियों की है। ऐसी आत्मकथा में 'व्यक्ति' महत्त्वपूर्ण नहीं होता। संघर्ष का इतिहास, उत्पीड़न की परंपरा, जीवन स्थितियों का ब्यौरा ही महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि यह एक व्यक्ति द्वारा कलमबद्ध होता है, इसलिए उसकी निजी जिंदगी, उसका व्यक्तित्व भी निर्णायक भूमिका में आ जाता है। स्वयं चेतना–संपन्न होने के बाद वह उस परिवर्तन कारी चेतना का प्रसार–विस्तार करना चाहता है और इसी क्रम में उसकी आत्मकथाएँ रची जाती हैं।

जाहिर है कि दलित–आत्मकथा का विधागत वैशिष्ट्य उसकी अंतर्वस्तु के कारण होता है। इसी वजह से कई चिंतकों ने इस विधा के नाम पर पुनर्विचार किया और पहले से प्रचलित नाम 'आत्मकथा' के प्रयोग पर अपनी आपत्ति दर्ज की। ऐसे विचारकों में मराठी के वरिष्ठ चिंतक व अम्बेडकरवादी रचनाकार यशवंत मनोहर हैं। उनके शब्दों में– ''आत्म शब्द अपने साथ कर्म–सिद्धांत लेकर आता है। कर्म–सिद्धांत का संबंध वर्ण–व्यवस्था के साथ है। यहाँ की संस्कृति ने आत्म की अवधारणा द्वारा शोषण का ऐसा विलक्षण दर्शन विषमता का जहरीला विचार–व्यूह प्रस्तुत किया है, जो विश्व के किसी भी देश या समाज में नहीं हैं। दलितों के शोषण की केन्द्रवर्ती आधार शिला ही यह 'आत्म' शब्द है। इस शब्द का प्रयोग दलितों के स्वकथन के साथ लगाना वास्तव में उनकी नास्तिक (बौद्ध) प्रेरणाओं का मजाक उड़ाना है। इस कारण दलितों के अनुभव कथन पर लेखक के लिए 'स्वकथन' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए।[7] 'यशवंत मनोहर' के इस प्रस्ताव से असहमति जाहिर करते हुए मराठी के दूसरे लेखक आनंद साहाले ने कहा कि आत्मकथा में आया 'आत्म' शब्द का 'आत्म' से कोई संबंध नहीं है। यह 'स्व' अथवा लेखकीय व्यक्तित्व के अर्थ में प्रयुक्त है।[8] एक बहस 'कथा' शब्द को लेकर भी उठाई गई है। 'कथा' काल्पनिक होती है, रंजनार्थ होती है, जबकि दलित– जीवन में यथार्थ और वेदना मुख्य है, इसलिए कथा के स्थान पर कथन शब्द के इस्तेमाल का आग्रह हुआ। मराठी दलित–आलोचना में अब 'आत्मकथा' विधा को 'स्वकथन' 'स्ववृत्त' 'आत्मवृत्त', 'अंबेडकरवादी आत्मवृत्त' आदि कहा जाता है। ओमप्रकाश बाल्मीकि का मानना है कि 'आत्मकथा' के प्रयोग में कोई दिक्कत नहीं है। बशर्ते कृति में निहित अंबेडकरी चेतना बनी रहे।[9]

दलित–आत्मकथाओं की रचना–प्रक्रिया को समझने के लिए कुछ बुनियादी बातों की चर्चा जरूरी है। इनमें से तीन प्रमुख बिन्दु हैं– (1) विद्रोही चेतना (2) इतिहास–बोध (3) भविष्य–दृष्टि। किसी भी अंबेडकरवादी आत्मकथा की निर्मिति, लक्ष्य और प्रभाव इन तीनों बिन्दुओं से अनिवार्यतः जुड़ी होती है। रचनाकार की विद्रोही चेतना इन तीन चीजों से मिलकर बनती है– (1) मेरे पूरे समुदाय का दुःख मेरा दुःख है और मेरा दुःख सिर्फ मेरा नहीं है। (2) यह दुःख वर्ण–जातिवादी समाज–व्यवस्था की देन है। (3) मैं इस वर्ण–व्यवस्था को सिरे से अस्वीकार करता/करती हूँ और प्रयत्नशील हूँ कि पूरा समाज या कम से कम मेरा समुदाय ऐसा ही करें।

अंबेदकरवादी लेखक/लेखिका इतिहास–बोध से कभी विच्छिन नहीं होता/होती। उसके इतिहास–बोध का आशय है: (1) वर्चस्व का कोई दैवी आधार नहीं होता। समानता, दैवीयता और ईश्वरवाद प्रभुत्व को कायम रखने की तरकीब है। (2) मनुष्य के विकास–क्रम को वैज्ञानिक दृष्टि से परखा जाना

चाहिए। (3) शोषण और उत्पीड़न के सभी रूपों का संज्ञान लिया जाना आवश्यक है। इसमें विकास, विस्थापन और शासन से जुड़े मुद्दों के साथ आंतरिक जातिवाद तथा पितृसत्ता के मुद्दे विशेष रूप से शामिल हैं। भविष्य– दृष्टि के अन्तर्गत निम्नबिन्दु विचारनीय हैं :–

(1) वैकल्पिक समाज की संभावना में यकीन, प्रतिरोध की संस्कृति से संबद्धता।
(2) समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व जैसे मूल्यों में विश्वास।
(3) दलित–अस्मिता के लिए संघर्ष, लेकिन इस अस्मिता को ही अंतिम न मानकर संपूर्ण मनुष्यता की बेहतरी का लक्ष्य।[10]

पारंपरिक साहित्य–विमर्श में आत्मकथा विधा को कभी महत्त्व नहीं दिया गया, लेकिन जब दलित लेखकों ने आत्मकथा लिखने की शुरूआत की, तो इसका दायरा ही नहीं बढ़ा, साहित्य की प्रकृति, वांग्मय–विमर्श का स्वभाव भी बदल गया। भूख, गरीबी और अवधूतपन में डूबी जिंदगी जब सीधे तौर पर आत्मकथा के रूप में आई तो पारंपरिक साहित्य के अभ्यासी व पाठक हतप्रभ रह गए और आलोचक हक्के–बक्के। इस साहित्य के प्रति उदासीनता उपेक्षा और अस्वीकार का रवैया अपनाकर इसे दबाने की कोशिश भी की गई, मगर शताब्दियों से बाहर आने को बैचेन सच रोके न जा सके।

भारतीय भाषाओं में दलित–साहित्य के विकास–क्रम को सहूलियत के लिए पाँच–चरणों में बाँटा जा सकता है– वेदना, नकार, विद्रोह, विश्लेषण और विजन। पहले चरण में दलित–समाज की वेदना का चित्रण हुआ और उस वेदना को जन्म देने वाली परिस्थिति विशेषकर उत्पीड़न का। दूसरे दौर में दुःखदायी व्यवस्था को नकारा गया। इसके बाद इस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का स्वर बुलंद हुआ। अगले चरण में यह चिंतन प्रमुख हुआ कि हमारी स्थिति ऐसी क्यों हुई? इस क्यों का विश्लेषण करते हुए पाँचवें और वर्त्तमान दौर विजन–निर्माण पर विशेष बल दिया जाने लगा है। भविष्य का समाज कैसा हो? इस वक्त प्रतिरोध दलित–साहित्य के लिए केन्द्रीय प्रश्न है। दलित आत्मकथाओं ने शुरू के तीन चरणों में अपनी विशेष भूमिका निभाई। अंतिम दो चरणों में अन्य विधाओं–कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना और चिंतनपरक गद्य की भूमिका ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गई है। उत्पीड़न के स्वरूप की बात करें तो दलित आत्मकथाओं में भौतिक, मानसिक तथा मिश्रित तीनों तरह के उत्पीड़न दर्ज हैं। दलित बस्ती पर हमला, पिटाई, आगजनी, आर्थिक दंड आदि भौतिक या शारीरिक उत्पीड़न है और तिरस्कार, अपमान, दुर्वचन देह और मन दोनों को घायल करते हैं। दलितों को जूते पहनकर चलने पर प्रतिबंध नए कपड़े पहनने पर रोक, वीसठों के पास से गुजरने पर चारपाई से उठ जाने की मजबूरी, ब्याह शादी में घोड़ी पर बैठ कर शादी नहीं करने की पाबंदी, जैसे मानसिक उत्पीड़न के अनगिनत प्रसंग इन आत्म कथाओं में दर्ज हैं।

बहरहाल, जिन आत्मकथाओं से दलितों के समुदाय–विशेष साहित्य जगत में प्रवेश पा सके हैं, उनमें कुछ की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है–

(1) महार समुदय– 'तराल अंतराल', 'यादों के पंक्षी', 'जीवन हमारा' और 'अछूत' आदि।
(2) जाटव या चमार– 'मुक्काम, पोट–देवाचे गोठणे 'अपने–अपने पिंजरे', 'झोपड़ी से राजभवन', 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' आदि।
(3) वाल्मीकि या भंगी– 'जूठन', 'तिरस्कृत', 'शिकंजे का दर्द' आदि।
(4) दबंगों की (दलित) रखैल से उपन्न संतान–अक्करमाशी।
(5) विमुक्त जाति– 'पराया', 'उचक्का', 'बेडर' आदि।
(6) कोल्हाटी (नाचने–गानेवाला समुदाय)– 'छोरा कोल्हाटी का'।
(7) बंजारा– 'तांडा', 'डोर डांगर'।
(8) मतंग जाति– 'काट्यावरची पोंट'।
(9) पोत राज जाति– 'आभरान'।
(10) दलित ईसाई– 'रिवस्ती महार', 'कुरक्कु'।
(11) पंजाबी रामदसिया दलित– 'छांग्या रूक्ख'।
(12) दलित स्त्री– 'दोहरा अभिशाप', 'आयदान' आदि।[11]

दलित आत्मकथाओं की कुछ सीमाएँ हैं। इन सीमाओं का उल्लेख किए बिना प्रस्तुत चर्चा अधूरी लगेगी। ये सीमाएँ लेखक विशेष की हो सकती है और विधागत भी। हमारा उद्देश्य यहाँ लेखक–विशेष की सीमाओं का उल्लेख करना न होकर विधा पर चर्चा करना है। हर विधा की अपनी विशेषता होती है और उसी तरह उसका अपना विशिष्ट दायरा भी होता है। इस दायरे का ध्यान रखना लेखक के लिए जरूरी होता है और समीक्षक, पाठक के लिए भी। मसलन, अंतर्वस्तु का जो विस्तार, संभावनाओं का जो स्पेस उपन्यास विधा में है– वह आत्मकथा में नहीं। दोनों विधाएँ एक दूसरे की पूरक तो हो सकती हैं, लेकिन उन्हें एक–दूसरे का विकल्प नहीं मान सकते हैं। 'विमर्श' के अपने कुछ आग्रह होते हैं। इन आग्रहों का सर्जनात्मक उपयोग जहाँ कृति की अर्थवत्ता में समृद्धि लाता है, वहीं इनकी समझ, समर्पण, रचनात्मकता की क्षति का कारण बनता है। प्रतिबद्धता लेखन में सहायक तो हो सकती है, लेकिन वह उत्कृष्टता की गारंटी नहीं दे सकती। फिर विमर्शवादी आग्रह कुछ रूढ़ियों को जन्म देते हैं। आलोचनात्मक समीक्षा (तंत्र) इन रूढ़ियों को लेखन–विशेष के अनिवार्य अभिलक्षण के रूप में स्थापित कर देती है। जब आसान–सा ढर्रा बन जाता है। लेखक की सफलता कुछ रूढ़ियों के चलताऊ इस्तेमाल से सुनिश्चित हो जाती है। विधाएँ पूर्वानुमेय हो जाती हैं और अनुभव का अनोखापन साँचा–बंद रचना प्रक्रिया में गुम होने लगता है। अंबेडकरवादी स्वकथन इस 'रूढ़िवाद' का शिकार हो, इसके पहले सावधान

होना जरूरी है। गलत समझे जाने की ज्यादा परवाह न कर इस पर बहस करना अनिवार्य है।

बहरहाल, प्रस्तुत प्रसंग में दलित आत्मकथाओं के रचनात्मक तथा विधागत वैशिष्ट्य को देखा जा सकता है–

(क) दलित आत्मकथा में दलित जीवनानुभवों की यथार्थपरक अभिव्यक्ति होती है।

(ख) दलित बस्ती का कटु यथार्थ गाँव के पारंपरिक रोमानी बोध तोड़ने में सक्षम होना दलित–आत्मकथा के लिए अनिवार्य है।

(ग) साहित्य को नई भाषा, नए मुहावरे, नए वाक्य–विन्यास देने में दलित आत्मकथा सदैव तत्पर होता है। इसमें पुरानी शब्दावली का त्याग किया गया है।

(घ) अनुभवाधारित लेखन दलित आत्मकथा की अनिवार्य शर्त है। यहाँ कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है।

(ङ) दलित–आत्मकथा में दलित–संस्कृति को जीवित किया जाता है, जो सवर्णवादी संस्कृति से पृथक् होता है।

(च) दलित आत्मकथा की भाषा में किसी तरह की कृत्रिमता नहीं होनी चाहिए।

(छ) दलित–आत्मकथा में संस्कृत की शब्दावली का निषेध किया जाता है।

(झ) दलित–आत्मकथा हमेशा व्यक्ति की नहीं होती, वरन उसके साथ पूरा परिवेश का उभरकर सामने आना अनिवार्य माना जाता है।

(झ) दलित–आत्मकथा में संस्कृति की शब्दावली का निषेध किया जाता है।

(ञ) दलित–आत्मकथा शिल्प के बजाय कथ्य पर जोर देता है।

निष्कर्ष :

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दलित अपनी पहचान की तलाश के लिए सृजन करता है। वह अपने ही नहीं अपने वर्ग तथा समाज के अधिकार के लिए रचनात्मक स्तर पर संघर्ष करता है। दलित साहित्य का प्रयोजन बहुआयामी है। इसके माध्यम में दलित अपने लिए समतामूलक समाज की स्थापना की माँग करता है। वह समता, स्वतंत्रता तथा बंधुता की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है।

संदर्भ सूची

1. 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र'– डॉ० देशराज भाटी, पृ०– 26
2. 'हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप एवं विकास', पृ०– 48
3. वही, पृ०– 51–52
4. 'पुस्तक वार्ता'–अंक–55, पृ०– 25
5. 'और औरत'– कृष्ण अग्निहोत्री, पृ०– 10
6. 'अपेक्षा' पत्रिका, जुलाई–सितम्बर– 2003 (दलित आत्मकथा विशेषांक)
7. 'दलित साहित्य : स्वरूप और संवेदना' (2000)– सुर्यनारायण शुभे, पृ०– 87
8. वही, पृ०– 88
9. 'दलित साहित्य : एक अंतर्यात्रा'– बजरंग बिहारी तिवारी, पृ०– 174
10. वही, पृ०– 175
11. वही, पृ०– 176

RRIJM 2015, All Rights Reserved